'कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव'

जैन साधना कषायों के विजय की साधना है। आचार्य हरिभद्र ने तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा था कि 'कषायों से मुक्ति ही वास्तविक अर्थ में मुक्ति है (कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव)। कषाय जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। यद्यपि बौद्ध परम्परा में 'धम्मपद' (२२३) में और हिन्दू परम्परा में छान्दोग्य उपनिषद् (७/२६/२) तथा महाभारत में शान्तिपर्व (२४४/३) में कषाय शब्द का प्रयोग अशुभ चित्तवृत्तियों के अर्थ में हुआ है; फिर भी इन दोनों परम्पराओं में कषाय शब्द का प्रयोग विरल ही देखा जाता है, जबकि जैन परम्परा में इस शब्द का प्रयोग प्रचुरता से देखा जाता है। जैन आचार्यों द्वारा इसकी व्युत्पत्तिपरक परिभाषाएँ अनेक दृष्टिकोणों से की गई हैं। सामान्यतया वे मनोवृत्तियाँ या मानसिक आवेग जो हमारी आत्मा को कलुषित करते हैं, हमारे आत्मीय सद्गुणों को कृश करते हैं, जिनसे आत्मा बन्धन में आती है और उसके संसार परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण में वृद्धि होती है, उन्हें कषाय कहते हैं। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि "अनिग्रहित क्रोध और मान तथा वृद्धिगत माया तथा लोभ- ये चारों कषायें पुनर्जन्मरूपी वृक्ष का सिंचन करती हैं, दुखः के कारण हैं, अतः समाधि के साधक उन्हें त्याग दें"। उत्तराध्ययनसूत्र में राग और द्वेष को कर्म का बीज कहा गया है। राग-द्वेष के कारण ही कषायों का जन्म होता है। स्थानागसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पाप कर्म की उत्पत्ति के दो स्थान हैं— राग और द्वेष। राग से लोभ का और लोभ से कपट अर्थात् माया का जन्म होता है। दूसरी ओर द्वेष से क्रोध का और क्रोध से अहंकार का जन्म होता है। इस प्रकार कषायों की उत्पत्ति के मूल में राग-द्वेष की वृत्ति ही काम करती है। यह भी सुनिश्चित है कि राग-द्वेष के मूल में भी राग ही प्रमुख तत्त्व है। राग की उपस्थिति में ही द्वेष का जन्म होता है। अतः संक्षेप में कहें तो सम्पूर्ण कषायों के मूल में राग या आसक्ति का तत्त्व ही प्रमुख है। वही कषायों का पिता है। राग-द्वेष से क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चार कषायों का क्या सम्बन्ध है, इसकी विस्तृत चर्चा विशेषावश्यक भाष्य में विभिन्न नयों या अपेक्षाओं के आधार पर की गई है। संग्रह नय की अपेक्षा से क्रोध और मान द्वेष रूप हैं, जबकि माया और लोभ राग रूप हैं। क्योंकि प्रथम दो में दूसरे की अहित भावना है और अन्तिम दो में अपनी स्वार्थ-साधना का लक्ष्य है। व्यवहारनय की दृष्टि से क्रोध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मान और माया- तीनों द्वेष रूप हैं, क्योंकि माया भी दूसरे के विघात का विचार ही है। केवल लोभ अकेला रागात्मक है, क्योंकि उसमें ममत्वभाव है। किन्तु ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से केवल क्रोध ही द्वेषरूप है, शेष कषाय-त्रिक-को न तो एकान्त रूप से राग-प्रेरित कहा जा सकता है, न द्वेष-प्रेरित। राग-प्रेरित होने पर वे राग-रूप हैं और द्वेष-प्रेरित होने पर द्वेषरूप होती हैं।[१] फिर भी यह तो सत्य ही है कि ये चारों कषाय मूलत: व्यक्ति की राग-द्वेषात्मक वृत्तियों की ही बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं। वस्तुत: व्यक्ति में निहित वासना के तत्त्व अपनी विधेयात्मक अवस्था में राग और निषेधात्मक अवस्था में द्वेष बन जाते है और ये राग-द्वेष के तत्त्व ही अपनी आवेगात्मक अभिव्यक्तिमें क्रोध, मान, माया और लोभ अर्थात् कषाय बन जाते हैं। इस प्रकार कषाय राग-द्वेष की बाह्य अभिव्यक्ति है और राग-द्वेष कषायों के अन्तरंग बीज हैं। राग-द्वेष के अभाव में कषायों की सत्ता नहीं है। कषायें राग-द्वेष रूपी युगल से ही जन्म लेती हैं, उन्हीं से सम्पोषित होती हैं और इनके मरने पर मर जाती हैं।

कषाय और मिथ्यात्व— कषायों की उपरोक्त चर्चा के प्रसंग में हमने यह देखा कि कषायों का जन्म राग-द्वेष की वृत्तियों से होता है। पुन: यदि हम यह विचार करें कि कषायों को जन्म देने वाली ये राग-द्वेष की वृत्तियाँ किसके आधार पर जन्म लेती हैं और सम्पोषित होती हैं, तो इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र का स्पष्ट निर्देश है कि राग-द्वेष और कषायों का मूलभूत कारण मोह है। इसे अज्ञान या अविवेक दशा भी कहा जा सकता है। किन्तु इससे आगे बढ़कर जब यह पूछा जाए कि यह मोह, अज्ञान या अविवेक क्यों उत्पन्न होता है या किसके द्वारा उत्पन्न होता है, तो हमें कहना पड़ता है कि इसका मूल कारण कषाय ही है।

वस्तुत: जैन दर्शन में यह एक प्रमुख दार्शनिक समस्या है कि यदि कषायों का कारण मोह या मिथ्यात्व है, तो मोह या मिथ्यात्व का कारण क्या है? सम्प्रति इन प्रश्नों को लेकर जैन चिन्तकों में एक विवाद छिड़ा हुआ है, मिथ्यात्व और कषाय में कौन प्रमुख है और कौन गौण है? यह प्रश्न आज निश्चयनय पर अधिक बल देने वाले कानजी स्वामी के समर्थक पण्डितों एवं व्यवहारनय की उपेक्षा नहीं करने वाले पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के समर्थकों के बीच विवाद का विषय बना हुआ है। एक ओर पू० कानजी स्वामी के समर्थक विद्वानों का कहना है कि बन्धन का मूलभूत कारण मिथ्यात्व है और कषाय अकिंचित्कर है, क्योंकि कषायों का जन्म भी मिथ्यात्व से होता है। दूसरी ओर आचार्य विद्यासागर जी के समर्थक विद्वानों का कहना है कि कषाय ही बन्धन का प्रमुख कारण है, मिथ्यात्व अकिंचित्कर है। क्योंकि मिथ्यात्व का जन्म और सत्ता दोनों ही अनन्तानुबन्धी कषायों की उपस्थिति में ही संभव है। अनन्तानुबन्धी कषायों के अभाव में मिथ्यात्व की सत्ता नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही पक्ष अपने-अपने आग्रहों पर खड़े हुए हैं। वस्तुत: मिथ्यात्व और कषाय ये दोनों ही परस्पर आश्रित हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और यह भी सत्य है कि तीव्रतम कषायों की उपस्थिति में ही मिथ्यात्व की सत्ता सम्भव होती है। वस्तुत: मिथ्यात्व और कषाय दोनों ही परोपजीवी हैं, मिथ्यात्व के अभाव में कषाय नहीं होती है और कषाय के अभाव में मिथ्यात्व भी नहीं होता है। वस्तुत: चिन्तन की अपेक्षा से ही कषाय और मिथ्यात्व को अलग-अलग किया जा सकता है। सत्ता में तो वे एक-दूसरे के अनुस्यूत होकर ही रहते हैं। व्यक्ति में कषायों के आवेग तभी उत्पन्न होते हैं, जब वह मोहग्रस्त या अज्ञान से घिरा होता है, किन्तु जैसे ही वह अज्ञान या मिथ्यात्व का घेरा तोड़ता है, उसके कषाय समाप्त हो जाते हैं। वस्तुत: मिथ्यात्व के बिना कषाय-भाव नहीं होते हैं और कषाय के बिना मिथ्यात्व भी नहीं होता है। एक की सत्ता पर दूसरे की सत्ता आधारित है, इनमें से कोई भी न तो अकिंचित्कर है और न दूसरे से निरपेक्ष ही। उत्तराध्ययनसूत्र में इसी समस्या का समाधान किंचित् भिन्न शब्दों में किया गया है। जिस प्रकार अण्डा और मुर्गी में कौन प्रथम, इस समस्या का समाधान नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मिथ्यात्व और कषाय में भी कौन प्रथम या महत्त्वपूर्ण है और कौन गौण या कम महत्त्वपूर्ण है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता है। जिस प्रकार अण्डे के बिना मुर्गी और मुर्गी के बिना अण्डा सम्भव नहीं है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के बिना कषाय और कषाय के बिना मिथ्यात्व सम्भव नहीं है। इनमें से किसी की भी पूर्व कोटि निर्धारित नहीं की जा सकती है, क्योंकि दोनों परोपजीवी या परस्पराश्रित हैं।

कषाय और कर्म-बन्ध

जैन दर्शन निरीश्वरवादी दर्शन है, अत: उसमें कर्म-सिद्धान्त को ही सर्वोपरिता दी गई है। व्यक्ति का संसार में परिभ्रमण ईश्वर के अधीन न होकर कर्मव्यवस्था के अधीन माना गया है, फलत: जैन दार्शनिकों ने कर्म के बन्धन और विपाक की तलस्पर्शी गम्भीर विवेचना की है। इसी क्रम में कर्म-बन्ध क्यों और कैसे होता है? इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने कर्म-बन्ध के निम्न पाँच कारणों का उल्लेख किया है— (१) मिथ्यात्व, (२) अविरति (असंयम), (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। ज्ञातव्य है कि यहाँ 'योग' से तात्पर्य मन, वचन एवं शरीर की गतिविधियाँ हैं। यदि इन पाँच कारणों का विश्लेषण करें तो हम यह पाते हैं कि मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद मूलत: कषाय के कारण ही होते हैं। कषायों की अनन्तानुबन्धी चौकड़ी मिथ्यात्व का कारण है क्योंकि कषायों की इस अनन्तानुबन्धी चौकड़ी की उपस्थिति में ही मिथ्यात्व सम्भव होता है। जैसे ही कषायों की यह अनन्तानुबन्धी चौकड़ी समाप्त होती है, मिथ्यात्व भी समाप्त हो जाता है और सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि मिथ्यात्व का कारण कषाय है। इसी प्रकार अविरति अर्थात् असंयम का कारण भी अनन्तानुबन्धी अथवा अप्रत्याख्यानी कषाय ही होते हैं। कषाय की अप्रत्याख्यानी चौकड़ी के समाप्त होने पर विरति या संयम का प्रकटन होता है। जब तक अप्रत्याख्यानी कषाय का उदय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, तब तक संयम या विरति संभव नहीं है। इसी प्रकार अविरति का कारण भी कषाय ही है। जब हम बन्ध के तीसरे हेतु प्रमाद पर विचार करते हैं, तो भी हमें स्पष्ट लगता है कि प्रमाद की सत्ता भी कषाय के कारण ही है। जब तक प्रत्याख्यानी कषायों की चौकड़ी सत्ता में है तब तक प्रमाद की भी सत्ता है। गुणस्थान सिद्धान्त में भी स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि प्रत्याख्यानी कषाय-चतुष्क के उदय में रहते हुए अप्रमत्त-संयत्त गुणस्थान की उपलब्धि सम्भव नहीं होती है। मात्र इतना ही नहीं, प्रबुद्ध जैनाचार्यों ने कषायों को प्रमाद का ही एक प्रकार माना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद- तीनों का हेतु कषाय ही है। अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क के क्षय से मिथ्यात्व का क्षय होता है। अप्रत्याख्यानी कषाय-चतुष्क के क्षय या क्षयोपशम से प्रमाद समाप्त होता है अत: मिथ्यात्व, अविरत और प्रमाद के मूल में कषाय ही रहे हुए हैं। कषयों के अभाव में इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती है, अत: बन्धन के प्रथम चार कारणों में कषाय ही प्रमुख कारण है, शेष मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद तो उसके आनुषंगिक ही हैं, कषाय की सत्ता में ही उनकी सत्ता है। निष्कर्ष यह है कि बन्धन के दो ही कारण हैं— कषाय और योग। इन दोनों कारणों में भी योग बन्धन का निमित्त कारण है। कषायों के अभाव में उसमें बन्धन का सामर्थ्य नहीं है। जैन दर्शन की मान्यता है कि कषाय के अभाव में मात्र योग के परिणामस्वरूप जो ईर्यापथिक आस्रव और बन्ध होता है वह क्षणिक ही है। उसमें प्रथम समय में बन्ध होता है और दूसरे समय में वह निर्जरित हो जाता है। वस्तुत: इस प्रकार का बन्ध वास्तविक बन्ध नहीं है। जैसे पानी में खींची गई लकीर खींचने के साथ ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार ईर्यापथिक बन्ध अपने बन्धन के साथ ही समाप्त हो जाता है। इस समस्त चर्चा का फलित यह है कि कषाय ही बन्धन के प्रमुख कारण हैं, योग तो अकिंचित्कर है। जिस प्रकार घी के अभाव में लड्डू बंधता नहीं है, उसी प्रकार कषाय के अभाव में कर्म भी बंधते नहीं हैं।

पुन: जैन कर्म-सिद्धान्त में बन्धन के चार प्रकार माने गये हैं- (१) प्रकृति बन्ध, (२) प्रदेश बन्ध, (३) स्थिति बन्ध और (४) अनुभाग बन्ध। यदि हम बन्धन के उपरोक्त दो कारण-कषाय और योग के सन्दर्भ में बन्धन के इन चार प्रकारों की चर्चा करें, तो हम यह पाते हैं कि योग प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध के कारण हैं; जबकि कषाय स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के कारण हैं। योग अर्थात् हमारी मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाओं द्वारा कर्मों की प्रकृति अर्थात् उनका स्वरूप और उनके प्रदेश अर्थात् मात्रा निर्धारित होती है। किन्तु यह ठीक वैसा ही है जैसा लड्डू बनाने के लिए वस्तु विशेष का एक निर्धारित मात्रा में लाया गया आटा हो। उससे लड्डू तो तभी बनेगा जब उसमें घी और शक्कर का सम्मिश्रण होगा। इसी प्रकार कर्म-बन्ध की प्रक्रिया में भी स्थिति और अनुभाग अर्थात् रस का निर्धारण कषायों के माध्यम से ही होता है। कषाय रूपी घी और शक्कर ही उस आटे को लड्डू के रूप में परिगत करते हैं। कर्म-बन्ध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्थिति अर्थात् काल मर्यादा और अनुभाग अर्थात् उनकी विपाकानुभूति (रस) का निर्धारण तो कषाय के द्वारा ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्म-बन्ध और विपाक (कर्म-फल) में मुख्य भूमिका कषाय की ही है। कषायों की तरतमता ही व्यक्ति के बन्धन के स्वरूप का निर्धारक तत्त्व है। संक्षेप में कहें, तो कषाय ही बन्धन के कारण हैं, हमारे सांसारिक अस्तित्व के आधार हैं और कषायों का क्षय या अभाव ही मुक्ति है।

कषाय के भेद

आवेगों की अवस्थाएँ भी तीव्रता की दृष्टि से समान नहीं होती हैं, अत: तीव्र आवेगों को कषाय और मंद आवेगों या तीव्र आवेगों के प्रेरकों को नो-कषाय (उप-कषाय) कहा गया है। कषायें चार हैं- १. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ। आवेगात्मक अभिव्यक्तियों की तीव्रता के आधार पर इनमें से प्रत्येक को चार-चार भागों में बाँटा गया है- १. तीव्रतम, २. तीव्रतर, ३. तीव्र और ४. मंद। आध्यात्मिक दृष्टि से तीव्रतम क्रोध आदि व्यक्ति के सम्यक् दृष्टिकोण या विवेक में विकार ला देते हैं। तीव्रतर क्रोध आदि आत्म-नियन्त्रण की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं। तीव्रक्रोध आदि आत्मनियन्त्रण की शक्ति के उच्चतम विकास में बाधक होते हैं। मंद क्रोध आदि व्यक्ति को पूर्ण वीतराग नहीं होने देते।[२] चारों कषायों की तीव्रता के आधार पर चार-चार भेद हैं। अत: कषायों की संख्या १६ हो जाती हैं। निम्न नो उप-आवेग, उप-कषाय या कषाय-प्रेरक माने गये हैं— १. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. घृणा, ७. स्त्रीवेद (पुरुष-सम्पर्क की वासना), ८. पुरुषवेद (स्त्री-सम्पर्क की वासना) और ९. नपुंसकवेद (दोनों के सम्पर्क की वासना)। इस प्रकार कुल २५ कषायें हैं।[३]

क्रोध

यह एक मानसिक किन्तु उत्तेजक आवेग है। उत्तेजित होते ही व्यक्ति भावाविष्ट हो जाता है। उसकी विचार-क्षमता और तर्क-शक्ति लगभग शिथिल हो जाती है। भावात्मक स्थिति में बढ़े हुए आवेग की वृत्ति युयुत्सा को जन्म देती है। युयुत्सा से अमर्ष और अमर्ष से आक्रमण का भाव उत्पन्न होता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार क्रोध और भय में यही मुख्य अन्तर है कि क्रोध के आवेग में आक्रमण का और भय के आवेग में आत्म-रक्षा का प्रयत्न होता है। जैन-दर्शन में सामान्यतया क्रोध के दो रूप मान्य हैं— १. द्रव्यक्रोध और २. भाव-क्रोध[४] द्रव्य-क्रोध को आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से क्रोध का आंगिक पक्ष कहा जा सकता है, जिसके कारण क्रोध में होनेवाले शारीरिक परिवर्तन होते हैं। भावक्रोध क्रोध की मानसिक अवस्था है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भाव-क्रोध है, जबकि क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक या शरीरात्मक पक्ष द्रव्य-क्रोध है। क्रोध के विभिन्न रूप हैं। भगवतीसूत्र में इसके दस समानार्थक नाम वर्णित हैं— १. क्रोध- आवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था. २. कोप-क्रोध से उत्पन्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वभाव की चंचलता, ३. दोष- स्वयं पर या दूसरे पर दोष थोपना, ४. रोष-क्रोध का परिस्फुट रूप, ५. संज्वलन-जलन या ईर्ष्या की भावना, ६. अक्षमा- अपराध क्षमा न करना, ७. कलह-अनुचित भाषण करना, ८. चाण्डिक्य-उग्ररूप करना, ९. मंडन-हाथापाई करने पर उतारू होना, १०. विवाद-आक्षेपात्मक भाषण करना।

क्रोध के प्रकार— क्रोध के आवेग की तीव्रता एवं मन्दता के आधार पर चार भेद किए गए हैं, जो इस भांति हैं-

१. **अनन्तानुबंधी क्रोध (तीव्रतम क्रोध)**- पत्थर में पड़ी दरार के समान क्रोध, जो किसी के प्रति एक बार उत्पन्न होने पर जीवनपर्यन्त बना रहे, कभी समाप्त न हो।

२. **अप्रत्याख्यानी क्रोध (तीव्रतर क्रोध)**- सूखते हुए जलाशय की भूमि में पड़ी दरार, जैसे आगामी वर्षा होते ही मिट जाती है, वैसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध एक वर्ष से अधिक स्थाई नहीं रहता और किसी के समझाने से शान्त हो जाता है।

३. **प्रत्याख्यानी क्रोध (तीव्र क्रोध)**- बालू की रेखा जैसे हवा के झोकों से जल्दी ही मिट जाती है, वैसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध चार-मास से अधिक स्थायी नहीं होता।

४. **संज्वलन क्रोध (अल्पक्रोध)**- शीघ्र ही मिट जाने वाली पानी में खींची गयी रेखा के समान इस क्रोध में स्थायित्व नहीं होता है।

बौद्धदर्शन में भी क्रोध को लेकर व्यक्तियों के तीन प्रकार माने गये हैं- १. वे व्यक्ति जिनका क्रोध पत्थर पर खींची रेखा के समान चिरस्थायी होता है, २. वे व्यक्ति जिनका क्रोध पृथ्वी पर खींची हुई रेखा के समान अल्प-स्थायी होता है, ३. वे जिनका क्रोध पानी पर खींची रेखा के समान अस्थायी होता है। दोनों परम्पराओं में प्रस्तुत दृष्टान्त-साम्य विशेष महत्त्वपूर्ण है।[५]

मान (अहंकार)

अहंकार करना मान है। अहंकार जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, साधना, ज्ञान आदि किसी भी विशेषता का हो सकता है। मनुष्य में स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति होती है, परन्तु जब स्वाभिमान की वृत्ति दम्भ या प्रदर्शन का रूप ले लेती है, तब मनुष्य अपने गुणों एवं योग्यताओं का बढ़े-चढ़े रूप में प्रदर्शन करता है और इस प्रकार उसके अन्तःकरण में मानवृत्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। अभिमानी मनुष्य अपनी अहंवृत्ति का पोषण करता रहता है। उसे अपने से बढ़कर या अपनी बराबरी का गुणी व्यक्ति कोई दिखता ही नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में प्रकारान्तर से मान के आठ भेद मान्य हैं— १. जाति मद, २. कुल मद, ३. बल (शक्ति) मद, ४. ऐश्वर्य मद, ५. तप मद, ६. ज्ञान मद (सूत्रों का ज्ञान), ७. सौन्दर्य मद और ८. अधिकार (प्रभुता)। मान को मद भी कहा गया है।

मान निम्न बारह रूपों में प्रकट होता है[1]- १. **मान-** अपने किसी गुण पर अहंवृत्ति, २. **मद-** अहंभाव में तन्मयता, ३. **दर्प-** उत्तेजना पूर्ण अहंभाव, ४. **स्तम्भ-** अविनम्रता, ५. **गर्व-** अहंकार, ६. **अत्युक्रोश-** अपने को दूसरे से श्रेष्ठ कहना, ७. **परपरिवाद-** परनिन्दा, ८. **उत्कर्ष-** अपना ऐश्वर्य प्रकट करना, ९. **अपकर्ष-** दूसरों को तुच्छ समझना, १०. **उन्नतनाम-** गुणी के सामने भी न झुकना, ११. **उन्नत-** दूसरों को तुच्छ समझना और १२. **पुर्नाम-** यथोचित रूप से न झुकना।

अहंभाव की तीव्रता और मन्दता के अनुसार मान के भी चार भेद हैं—

१. **अनंतानुबन्धी मान-** पत्थर के खम्भे के समान जो झुकता नहीं, अर्थात् जिसमें विनयगुण नाममात्र को भी नहीं है।

२. **अप्रत्याख्यानी मान-** हड्डी के समान कठिनता से झुकने वाला अर्थात् जो विशेष परिस्थितियों में बाह्य दबाव के कारण विनम्र हो जाता है।

३. **प्रत्याख्यानी मान-** लकड़ी के समान प्रयत्न से झुक जाने वाला अर्थात् जिसके अन्तर में विनम्रता तो होती है, लेकिन जिसका प्रकटन विशेष स्थिति में ही होता है।

४. **संज्वलन मान-** बेंत के समान अत्यन्त सरलता से झुक जानेवाला अर्थात् जो आत्म-गौरव को रखते हुए भी विनम्र बना रहता है।

माया

कपटाचार माया कषाय है। भगवतीसूत्र के अनुसार इसके पन्द्रह नाम हैं[2]- १. **माया-** कपटाचार, २. **उपाधि-** ठगने के उद्देश्य से व्यक्ति के पास जाना, ३. **निकृति-** ठगने के अभिप्राय से अधिक सम्मान देना, ४. **वलय-** वक्रता पूर्ण वचन, ५. **गहन-** ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करना, ६. **नूम-** ठगने के हेतु निकृष्ट कार्य करना, ७. **कल्क-** दूसरों को हिंसा के लिए उभारना, ८. **करूप-** निन्दित व्यवहार करना, ९. **निहृता-** ठगाई के लिए कार्य मन्द गति से करना, १०. **किल्विषिक-** भांडों के समान कुचेष्टा करना, ११. **आदरणता-** अनिच्छित कार्य भी अपनाना, १२. **गूहनता-** अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करना, १३. **वंचकता-** ठगी और १४. **प्रति-कुंचनता-** किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खण्डन करना, १५. **सातियोग-** उत्तम वस्तु में हीन वस्तु की मिलावट करना। ये सब माया की ही विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माया के चार प्रकार— १. अनंतानुबन्धी माया (तीव्रतम कपटाचार)- बांस की जड़ के समान कुटिल, २. अप्रत्याख्यानी माया (तीव्रतर कपटाचार)- भैंस के सींग के समान कुटिल, ३. प्रत्याख्यानी माया (तीव्र कपटाचार)- गोमूत्र की धारा के समान कुटिल, ४. संज्वलन माया (अल्प कपटाचार)- बांस के छिलके के समान कुटिल।

लोभ

मोहनीय-कर्म के उदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा या लालसा लोभ कहलाती है। लोभ की सोलह अवस्थाएँ हैं[६]- **लोभ**- संग्रह करने की वृत्ति, २. **इच्छा**- अभिलाषा, ३. **मूर्च्छा**- तीव्र संग्रह-वृत्ति, ४. **कांक्षा**- प्राप्त करने की आशा, ५. **गृद्धि**- आसक्ति, ६. **तृष्णा**- जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति, ७. **मिथ्या**- विषयों का ध्यान, ८. **अभिध्या**- निश्चय से डिग जाना या चंचलता, ९. **आशंसना**- इष्ट-प्राप्ति की इच्छा करना, १०. **प्रार्थना**- अर्थ आदि की याचना, ११. **लोलपनता**- चाटुकारिता, १२. **कामाशा**- काम की इच्छा, १३. **भोगाशा**- भोग्य-पदार्थों की इच्छा, १४. **जीविताशा**- जीवन की कामना, १५. **मरणाशा**- मरने की कामना[७] और १६. **नन्दिराग**- प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग।

लोभ के चार भेद- १. अनंतानुबन्धी लोभ-मजीठिया रंग के समान जो छूटे नहीं, अर्थात् अत्यधिक लोभ। २. अप्रत्याख्यानी लोभ- गाड़ी के पहिये के औगन के समान मुश्किल से छूटने वाला लोभ। ३. प्रत्याख्यानी लोभ- कीचड़ के समान प्रयत्न करने पर छूट जाने वाला लोभ। ४. संज्वलन लोभ-हल्दी के समान शीघ्रता से दूर हो जाने वाला लोभ।

नोकषाय- नोकषाय शब्द दो शब्दों के योग से बना है नो+कषाय। जैन-दार्शनिकों ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ में ग्रहण किया है।[८] इस प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ- इन प्रधान कषायों के सहचारी भावों अथवा उनकी सहयोगी मनोवृत्तियाँ जैन परिभाषा में नोकषाय कही जाती हैं।[९] जहाँ पाश्चात्य मनोविज्ञान में काम-वासना को प्रमुख मूलवृत्ति तथा भय को प्रमुख आवेग माना गया है, वहाँ जैनदर्शन में उन्हें सहचारी कषाय या उप-आवेग कहा गया है। इसका कारण यही हो सकता है कि जहाँ पाश्चात्य विचारकों ने उन पर मात्र मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है, वहाँ जैन विचारणा में जो मानसिक तथ्य नैतिक दृष्टि से अधिक अशुभ थे, उन्हें कषाय कहा गया है और उनके सहचारी अथवा कारक मनोभाव को नोकषाय कहा गया है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर नोकषाय वे प्राथमिक स्थितियाँ हैं, जिनसे कषायें उत्पन्न होती हैं, तथापि आवेगों की तीव्रता की दृष्टि से नोकषाय कम तीव्र होते हैं और कषायें अधिक तीव्र होती हैं। इन्हें कषाय का कारण भी कहा जा सकता है। जैन-ग्रन्थों में इनकी संख्या ९ (नौ) मानी गई है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **हास्य**-सुख या प्रसन्नता की अभिव्यक्ति हास्य है। जैन-विचारणा के अनुसार हास्य का कारण पूर्व-कर्म या वासना-संस्कार है। यह मान कषाय का कारण है।

२. **शोक**-इष्टवियोग और अनिष्टयोग से सामान्य व्यक्ति में जो मनोभाव जागृत होते हैं, वे शोक कहे जाते हैं।[१०] शोक चित्तवृत्ति की विकलता का द्योतक है[११] और इस प्रकार मानसिक समत्व का भंग करने वाला है। कभी-कभी यह क्रोध कषाय में रूपान्तरित हो जाता है।

३. **रति (रुचि)**- अभीष्ट पदार्थों पर प्रीतिभाव अथवा इन्द्रिय-विषयों मे चित्त की अभिरतता ही रति है। इसके कारण ही आसक्ति एवं लोभ की भावनाएँ प्रबल होती हैं।

४. **अरति**- इन्द्रिय-विषयों में अरुचि ही अरति है। अरुचि का भाव ही विकसित होकर घृणा और द्वेष बनता है। राग और द्वेष तथा रुचि और अरुचि में प्रमुख अन्तर यही है कि राग और द्वेष मनस् की सक्रिय अवस्थाएँ हैं, जबकि रुचि और अरुचि निष्क्रिय अवस्थाएँ हैं। रति और अरति पूर्व कर्म-संस्कारजनित स्वाभाविक रुचि और अरुचि का भाव है।

५. **घृणा**- घृणा या जुगुप्सा अरुचि का ही विकसित रूप है। अरुचि और घृणा में केवल मात्रात्मक अन्तर ही है। अरुचि की अपेक्षा घृणा में विशेषता यह है कि अरुचि में पदार्थ-विशेष के भोग की अरुचि होती है, लेकिन उसकी उपस्थिति सह्य होती है, जबकि घृणा में उसका भोग और उसकी उपस्थिति दोनों ही असह्य होती है। अरुचि का विकसित रूप घृणा और घृणा का विकसित रूप द्वेष है।

६. **भय**- किसी वास्तविक या काल्पनिक तथ्य से आत्मरक्षा के निमित्त बच निकलने की प्रवृत्ति ही भय है। भय और घृणा में प्रमुख अन्तर यह है कि घृणा के मूल में द्वेष-भाव रहता है, जबकि भय में आत्म-रक्षण का भाव प्रबल होता है। घृणा क्रोध और द्वेष का एक रूप है, जबकि भय लोभ या राग की ही एक अवस्था है। जैनागमों में भय सात प्रकार का माना गया है, जैसे— (१) **इहलोक भय**-यहाँ लोक शब्द संसार के अर्थ में न होकर जाति के अर्थ में भी गृहीत है। स्वजाति के प्राणियों से अर्थात् मनुष्यों के लिए मनुष्यों से उत्पन्न होने वाला भय, (२) **परलोक भय**-अन्य जाति के प्राणियों से होने वाला भय, जैसे मनुष्यों के लिए पशुओं का भय, (३) **आदान भय**-धन की रक्षा के निमित्त चोर-डाकू आदि बाह्य कारणों से उत्पन्न भय, ४. **अकस्मात भय**- बाह्य निमित्त के अभाव में स्वकीय कल्पना से निर्मित भय या अकारण भय। भय का यह रूप मानसिक ही होता है, जिसे मनोविज्ञान में असामान्य भय कहते हैं। ५. **आजीविका भय**- आजीविका या धनोपार्जन के साधनों की समाप्ति (विच्छेद) का भय। कुछ ग्रन्थों में इसके स्थान पर वेदना-भय का उल्लेख है। रोग या पीड़ा का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भय वेदना भय है। ६. **मरण भय**- मृत्यु का भय; जैन और बौद्ध विचारणा में मरण-धर्मता का स्मरण तो नैतिक दृष्टि से आवश्यक है, लेकिन मरण भय (मरणाशा एवं जीविताशा) को नैतिक दृष्टि से अनुचित माना गया है। ७. **अश्लोक (अपयश) भय**- मान-प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचने का भय।[१२]

७. **स्त्रीवेद**- स्त्रीत्व सम्बन्धी काम-वासना अर्थात् पुरुष से संभोग की इच्छा। जैन-विचारणा में लिंग और वेद में अन्तर किया गया है। लिंग आंगिक संरचना का प्रतीक है, जबकि वेद तत्सम्बन्धी वासनाओं की अवस्था है। यह आवश्यक नहीं है कि स्त्री-लिंग होने पर स्त्रीवेद हो ही। जैन-विचारणा के अनुसार लिंग (आंगिक रचना) का कारण नाम-कर्म है, जबकि वेद (वासना) का कारण चारित्रमोहनीय-कर्म है।

८. **पुरुषवेद**- पुरुषत्व सम्बन्धी काम वासना अर्थात् स्त्री-संभोग की इच्छा।

९. **नपुंसकवेद**- प्राणी में स्त्रीत्व सम्बन्धी और पुरुषत्व सम्बन्धी दोनों वासनाओं का होना नपुंसकवेद कहा जाता है। दोनों के संभोग की इच्छा ही नपुंसकवेद है।

जैन-विचारकों के अनुसार तीव्रता की दृष्टि से पुरुष की काम-वासना शीघ्र ही प्रदीप्त हो जाती है और शीघ्र ही शान्त हो जाती है। स्त्री की काम-वासना देर से प्रदीप्त होती है, लेकिन एक बार प्रदीप्त हो जाने पर काफी समय तक शान्त नहीं होती। नपुंसक की काम-वासना शीघ्र प्रदीप्त हो जाती है, लेकिन शान्त देर से होती है।[१३] इस प्रकार भय, शोक, घृणा, हास्य, रति, अरति और काम-विकार- ये उप-आवेग हैं। ये भी व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते हैं। क्रोध आदि की शक्ति तीव्र होती है, इसलिए वे आवेग हैं। ये व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के अतिरिक्त उसके आन्तरिक गुणों-सम्यक् दृष्टिकोण, आत्म-नियन्त्रण आदि को भी प्रभावित करते हैं। भय आदि उप-आवेग व्यक्ति के आन्तरिक गुणों को उतना प्रत्यक्षत: प्रभावित नहीं करते, जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं। उनकी शक्ति अपेक्षाकृत क्षीण होती है, इसलिए वे उप-आवेग कहलाते हैं।[१४]

कषाय-जय- नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का आधार- जैन आचार-दर्शन के अनुसार उक्त १६ आवेगों (कषाय) और ९ उप-आवेगों (नो-कषाय) का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के चरित्र से है, नैतिक जीवन के लिए इन वासनाओं एवं आवेगों से ऊपर उठना आवश्यक है।

जब तक व्यक्ति इनसे ऊपर नहीं उठता है, वह नैतिक प्रगति नहीं कर सकता। गुणस्थान आरोहण में यह तथ्य स्पष्ट रूप से वर्णित है कि नैतिक विकास की किस अवस्था में कितनी कषायों का क्षय हो जाता है और कितनी शेष रहती हैं। नैतिकता की सर्वोच्च भूमिका समस्त कषायों के समाप्त होने पर ही प्राप्त होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-सूत्रों में इन चार प्रमुख कषायों को 'चंडाल चौकड़ी' कहा गया है। इनमें अनन्तानुबन्धी आदि जो विभाग हैं, उनको सदैव ध्यान में रखना चाहिए और हमेशा यह प्रयत्न करना चाहिए कि कषायों में तीव्रता न आये, क्योंकि अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ के होने पर साधक अनन्तकाल तक संसार परिभ्रमण करता है और सम्यग्दृष्टि नहीं बन पाता है। यह जन्म-मरण के रोग की असाध्यावस्था है। अप्रत्याख्यानी कषाय के होने पर साधक, श्रावक या गृहस्थ साधक के पद से गिर जाता है। यह साधक के आंशिक चारित्र का नाश कर देती है। यह विकारों की दु:साध्यावस्था है। इसी प्रकार प्रत्याख्यानी कषाय की अवस्था में साधुत्व प्राप्त नहीं होता। इसे विकारों की प्रयत्न-साध्यावस्था कहा जा सकता है। साधक को अपने जीवन में उपर्युक्त तीनों प्रकार के कषायों को स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि इससे उसकी साधना या चारित्र धर्म का नाश हो जाता है। इतना ही नहीं, साधन को अपने अन्दर संज्वलन कषाय को भी स्थान नहीं देना चाहिए, क्योंकि जब तक चित्त में सूक्ष्मतम क्रोध, मान, माया और लोभ रहते हैं, साधक अपने लक्ष्य-निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता। संक्षेप में, अनन्तानुबन्धी चौकड़ी या कषायों की तीव्रतम अवस्था यथार्थ दृष्टिकोण की उपलब्धि में बाधक है। अप्रत्याख्यानी चौकड़ी या कषायों की तीव्रतर अवस्था आत्म-नियन्त्रण में बाधक है। प्रत्याख्यानी चौकड़ी या कषायों की तीव्र अवस्था श्रमण जीवन में घातक है। इसी प्रकार संज्वलन चौकड़ी या अल्प-कषाय पूर्ण निष्काम या वीतराग जीवन की उपलब्धि में बाधक है। इसलिए साधक को सूक्ष्मतम कषायों को भी दूर करने का प्रयत्न करना चाहए, क्योंकि इनके होने पर उसकी साधना में पूर्णता नहीं आ सकती। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि आत्म-हित चाहने वाला साधक पाप की वृद्धि करने वाले क्रोध, मान, माया और लोभ- इन चार दोषों को पूर्णतया छोड़ दे।[१५] नैतिक जीवन की साधना करने वाला इनको क्यों छोड़ दे? इस तर्क के उत्तर में दशवैकालिकसूत्र में इनकी सामाजिक एवं वैयक्तिक सद्गुणों का घात करने वाली प्रकृति का भी विवेचन किया गया है— क्रोध प्रीति का, मान विनय (नम्रता) का, माया मित्रता का और लोभ सद्गुणों का नाश कर देता है।[१६] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि मान विनय, श्रुत, शील-सदाचार एवं त्रिवर्ग का घातक है। वह विवेकरूपी नेत्रों को नष्ट करके मनुष्य को अन्धा बना देता है। क्रोध जब उत्पन्न होता है तो प्रथम आग की तरह उसी को जलाता है, जिसमें वह उत्पन्न होता है। माया अविद्या और असत्य की जनक है और शीलरूपी वृक्ष को नष्ट करने में कुल्हाड़े के समान तथा अधोगति का कारण है। लोभ समस्त दोषों की उत्पत्ति की खान है, समस्त सद्गुणों को निगल जाने वाला राक्षस है, सारे दु:खों का मूल कारण और धर्म तथा काम-पुरुषार्थ का बाधक है।[१७] यहाँ पर विशेष द्रष्टव्य यह भी है कि कषायों में जहाँ क्रोध-मानादि को एक या अधिक सद्गुणों का विनाशक कहा गया है, वहाँ लोभ को सर्व सद्गुणों का विनाशक कहा गया है। लोभ सभी कषायों में निकृष्टतम इसलिए है कि वह रागात्मक है और राग या आसक्ति ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्त असत् वृत्तियों की जनक है। आचार्य महाप्रज्ञ सामाजिक जीवन पर होने वाले कषायों के परिणामों की चर्चा करते हुए लिखते हैं कि "हमारे मतानुसार (सामाजिक) सम्बन्ध-शुद्धि की कसौटी है- ऋजुता, मृदुता, शान्ति और त्याग से समन्वित मनोवृत्ति। हर व्यक्ति में चार प्रकार की वृत्तियाँ (कषाय) होती हैं:- १. संग्रह, २. आवेश, ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना)। चार वृत्तियाँ और होती हैं। वे उक्त चार प्रवृत्तियों की प्रतिपक्षी हैं:- १. त्याग या विसर्जन, २. शान्ति, ३. समानता या मृदुता, ४. ऋजुता या स्पष्टता। ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक हैं, इसलिए इन्हें अनैतिक और नैतिक नहीं कहा जा सकता इन्हें आध्यात्मिक (वैयक्तिक) दोष और गुण कहा जा सकता है। इन वृत्तियों के जो परिणाम समाज में संक्रान्त होते हैं, उन्हें अनैतिक और नैतिक कहा जा सकता है।"

कषाय की वृत्तियों के परिणाम

१. संग्रह (लोभ) की मनोवृत्ति के परिणाम-शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात।

२. आवेश (क्रोध) की मनोवृत्ति के परिणाम-गाली-गलौज, युद्ध, आक्रमण, प्रहार, हत्या।

३. गर्व (अपने को बड़ा मानने) की मनोवृत्ति के परिणाम-घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार, क्रूर-व्यवहार।

४. माया (छिपाने) की मनोवृत्ति के परिणाम-अविश्वास, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार।

कषाय जय के परिणाम

१. त्याग (विसर्जन) की मनोवृत्ति के परिणाम-प्रामाणिकता, सापेक्ष व्यवहार, अशोषण।

२. शान्ति की मनोवृत्ति के परिणाम-वाक्-संयम, अनाक्रमण, समझौता, समन्वय।

३. समानता की मनोवृत्ति के परिणाम-सापेक्ष-व्यवहार, प्रेम, मृदु व्यवहार।

४. ऋजुता की मनोवृत्ति के परिणाम-मैत्रीपूर्ण व्यवहार, विश्वास।[१८]

अत: आवश्यक है कि सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिए प्रथम प्रकार की वृत्तियों का त्याग कर जीवन में दूसरे प्रकार की प्रतिपक्षी वृत्तियों को स्थान दिया जाये। इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवन की दृष्टियों से कषाय-जय आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है, क्रोध से आत्मा अधोगति को जाता है और मान से, माया से अच्छी गति (नैतिक विकास) का प्रतिरोध हो जाता है, लोभ से इस जन्म और अगले जन्म दोनों में ही भय प्राप्त होता है।[१९] जो व्यक्ति यश, पूजा या प्रतिष्ठा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कामना करता है, मान और सम्मान की अपेक्षा करता है, वह व्यक्ति अपने मान की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के पाप-कर्म करता है और कपटाचार का प्रश्रय लेता है।[२०] दुष्पूर्य लोभ की पूर्ति में लगा हुआ व्यक्ति सदैव ही दु:ख उठाया करता है, अत: इन जन्म-मरण रूपी वृक्ष का सिंचन करने वाली कषायों का परित्याग कर देना चाहिए।

कषाय-जय कैसे?- प्रश्न यह है कि मानसिक आवेगों (कषायों) पर विजय कैसे प्राप्त की जाये? पहली बात यह कि तीव्र कषायोदय में तो विवेक-बुद्धि प्रसुप्त ही हो जाती है, अत: विवेक-बुद्धि से कषायों का निग्रहण सम्भव नहीं रह जाता। दूसरे इच्छापूर्वक भी उनका निरोध सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा तो स्वत: उनसे ही शासित होने लगी है। पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा (Spinoza) के अनुसार आवेगों का नियंत्रण संकल्पों से भी संभव नहीं, क्योंकि संकल्प तो आवेगात्मक स्वभाव के आधार पर ही बनते हैं और उसके ही एक अंग होते हैं।[२१] तीसरे, आवेगों का निरोध भी मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से अहितकर माना गया है और उनकी किसी न किसी रूप में अभिव्यक्ति आवश्यक मानी गयी है। तीव्र आवेगों के निरोध के लिए तो एक ही मार्ग है कि उन्हें उनके विरोधी आवेगों द्वारा शिथिल किया जाये। स्पीनोजा की मान्यता यही है कि कोई भी आवेग अपने विरोधी और अधिक शक्तिशाली आवेग के द्वारा ही नियंत्रित या समाप्त किया जा सकता है।[२२] जैन एवं अन्य भारतीय चिन्तकों ने भी इस सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण अपनाया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिए।[२३] आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य हेमचन्द्र भी यही कहते हैं।[२४] धम्मपद में कहा है कि अक्रोध से क्रोध को, साधुता से असाधुता को जीतें तथा कृपणता को दान से और मिथ्या भाषण को सत्य से पराजित करें।[२५] महाभारत में भी लगभग इन्हीं शब्दों में इन वृत्तियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का निर्देश है।[२६] महाभारत और धम्मपद का यह शब्द-साम्य और दशवैकालिक एवं धम्मपद का यह विचार-साम्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुत: कषाय ही आत्म-विकास में बाधक है। कषायों का नष्ट हो जाना ही भव-भ्रमण का अंत है। एक जैनाचार्य का कथन है 'कषायमुक्ति: किल मुक्तिरेव'- कषायों से मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि साधक को हमेशा यही विचार करना चाहिए कि मैं न तो क्रोध हूँ, न मान, न माया, न लोभ ही हूँ अर्थात् ये मेरी आत्मा के गुण नहीं हैं। अतएव मैं न तो इनको करता हूँ, न करवाता हूँ और न करने वालो का अनुमोदन (समर्थन) करता हूँ।[२७]

इस प्रकार कषायों को विकृति समझकर साधक शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए इनसे दूर होकर शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इन चारों दोषों का त्याग कर देने वाला पाप नहीं कर सकता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार महादोषों को छोड़ देने वाला महर्षि न तो पाप करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, न करवाता है।[२८] कषाय-जय से जीवनमुक्ति को प्राप्त कर वह निष्काम जीवन जीता है।

बौद्धदर्शन और कषाय-जय— धम्मपद में कषाय शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। एक तो उसका जैन-परम्परा के समान दूषित चित्तवृत्ति के अर्थ में और दूसरे संन्यस्त जीवन के प्रतीक गेरूए वस्त्रों के अर्थ में। तथागत कहते हैं- 'जो व्यक्ति (रागद्वेषादि) कषायों को छोड़े बिना कषाय वस्त्रों (गेरूए कपड़ों) को अर्थात् संन्यास धारण करता है वह संयम के यथार्थ स्वरूप से पतित व्यक्ति कषाय-वस्त्रों (संन्यास मार्ग) का अधिकारी नहीं है। लेकिन जिसने कषायों (दूषित चित्तवृत्तियों) को वमित कर दिया (तज दिया) है, वह संयम के यथार्थ स्वरूप से युक्त व्यक्ति काषाय-वस्त्रों (संन्यास मार्ग) का अधिकारी है'।[२९] बौद्ध-विचार में कषाय शब्द के अन्तर्गत कौन-कौन दूषित वृत्तियाँ आती हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख हमें नहीं मिलता । क्रोध, मान, माया, लोभ को बौद्ध-विचारणा में दूषित चित्त-वृत्ति के रूप में ही माना गया है और नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए उनके परित्याग का निर्देश है। बुद्ध कहते हैं कि क्रोध को छोड़ दो और अभिमान का त्याग कर दो; समस्त संयोजनों को तोड़ दो, जो पुरुष नाम तथा रूप में आसक्त नहीं होता, लोभ नहीं करता, जो अकिंचन है, उस पर क्लेशों का आक्रमण नहीं होता। जो उठते हुए क्रोध को उसी तरह निग्रहित कर लेता है, जैसे सारथी घोड़े को; वही सच्चा सारथी है (नैतिक जीवन का सच्चा साधक है), शेष सब तो मात्र लगाम पकड़ने वाले हैं। भिक्षुओं! लोभ, द्वेष और मोह पापचित्त वाले मनुष्य को अपने भीतर ही उत्पन्न होकर नष्ट कर देते हैं जैसे केले के पेड़ को उसी का फल (केला)।[३०] मायावी मर कर नरक में उत्पन्न हो दुर्गति को प्राप्त होता है।[३१] सुत्तनिपात में कहा गया है कि जो मनुष्य जाति, धन और गोत्र का अभिमान करता है और अपने बन्धुओंका अपमान करता है, वह उसके पराभव का कारण है।[३२] जो क्रोध करता है, वैरी है तथा जो मायावी है उसे वृषल (नीच) जानो।[३३] इस प्रकार बौद्धदर्शन इन अशुभ-चित्त वृत्तियों का निषेध कर साधक को इनसे ऊपर उठने का संदेश देता है।

गीता और कषाय-निरोध—यद्यपि गीता में कषायों का ऐसा चतुर्विध वर्गीकरण तो नहीं, मिलता, तथापि कषायों के रूप में जिन अशुभ मनोवृत्तियों का चित्रण जैनागमों में है, उन सभी अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में प्रयोग विरल ही हुआ हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है।[३४] महाभारत के शान्तिपर्व में भी कषाय शब्द का प्रयोग अशुभ मनोवृत्तियों के अर्थ में हुआ है। वहाँ कहा गया है कि मनुष्य-जीवन की तीन सीढ़ियों अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ-आश्रम में कषायों को विजित कर फिर संन्यास का अनुसरण करें।[३५] गीता में कषाय शब्द का प्रयोग नहीं है। फिर भी गीता में कषाय-वृत्तियों का विवेचन है। गीता कहती है कि 'दम्भ, दर्प,मान, क्रोध आदि आसुरी सम्पदा हैं।[३६] अहंकार, बल, दर्प (मान), काम (लोभ) और क्रोध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के आश्रित होकर मनुष्य अपने और दूसरों के शरीर में स्थित परमात्मा (आत्मा) से द्वेष करने वाले होते हैं।[३७] अर्थात् मान, क्रोध, लोभ आदि विकारों के वशीभूत होकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाते हैं। यह काम, क्रोध और लोभ आत्मा का नाश करने वाले (आत्मा को विकारी बनाकर उसके स्व-लक्षणों को आवरित करने वाले) नरक के द्वार हैं। अत: इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। जो इन नरक के द्वारों से मुक्त होकर अपने कल्याण-मार्ग का आचरण करता है, वह परमगति को प्राप्त करता है।[३८]

इस प्रकार क्रोध, मान और लोभ- इन तीन कषायों का विवेचन हमें गीता में मिल जाता है। गीता में माया शब्द का प्रयोग तो हुआ है, लेकिन जिस निम्न-स्तरीय कपट-वृत्ति के अर्थ में जैन दर्शन में उसका प्रयोग किया गया है, उस अर्थ में उसका प्रयोग नहीं हुआ है। वहाँ तो वह दैवी माया (७/१४) है, फिर भी वह नैतिक विकास में बाधक अवश्य मानी गयी है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि माया के द्वारा जिनके ज्ञान का अपहरण हो गया है, ऐसे आसुरी स्वभाव से युक्त, दूषित कर्मों का आचरण करने वाले, मनुष्यों में नीच, मूर्ख मुझ परमात्मा को प्राप्त नहीं होते।[३९]

सारांश यह है कि मनोवृत्तियों के चारों रूप, जिन्हें जैन विचारणा कषाय कहती है, गीता में भी निकृष्ट माने गये हैं और नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए इनका परित्याग करना आवश्यक है। गीताकार की दृष्टि में जो मनुष्य इस शरीर के नाश होने के पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न आवेगों (संवेगों) को सहन करने में समर्थ हैं अर्थात् जो काम एवं क्रोध की भावनाओं से ऊपर उठ गया है, वही योगी है और वही सुखी है। काम-क्रोधादि (कषाय-वृत्तियों से रहित, विजित-चित्त एवं विकार रहित आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने वाला ज्ञानी पुरुष सभी ओर से ब्रह्म-निर्वाण में ही निवास करता है अर्थात् जीवनमुक्त हो जाता है।[४०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में भी जैनदर्शन के समान क्रोध (आवेश), मान (अहंकार), माया (छिपाने की वृत्ति) और लोभ (संग्रह-वृत्ति) आदि आवेगों को वैयक्तिक आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि की दृष्टि से अनुचित माना गया है। यदि व्यक्ति इन आवेगात्मक मनोवृत्तियों को अपने जीवन में स्थान देता है तो एक ओर वैयक्तिक दृष्टि से वह अपने आध्यात्मिक विकास को अवरुद्ध करता है और यथार्थ बोध से वंचित रहता है, दूसरी ओर उसकी इन वृत्तियों के परिणाम सामाजिक जीवन में संक्रान्त होकर क्रमश: संघर्ष (युद्ध), शोषण, घृणा (ऊँच-नीच का भाव) और अविश्वास को उत्पन्न करते हैं जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है अत: वैयक्तिक-आध्यात्मिक विकास और सामञ्जस्यपूर्ण सामाजिक जीवन प्रणाली के लिए आवेगात्मक मनोवृत्तियों का त्याग आवश्यक है और इनके स्थान पर इनकी प्रतिपक्षी शान्ति, समानता, सरलता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(विश्वसनीयता) और विसर्जन (त्याग) की मनोवृत्तियों को जीवन में स्थान देना चाहिए ताकि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का विकास हो सके।

व्यक्ति जैसे-जैसे इन आवेगात्मक मनोवृत्तियों से ऊपर उठता है, वैसे-वैसे उसका व्यक्तित्व परिपक्व बनता जाता है और जब इन आवेगात्मक मनोभावों से पूर्णतया ऊपर उठ जाता है, तब वीतराग, अर्हत् या जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जो कि नैतिक जीवन का साध्य है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इसे परिपक्व व्यक्ति (Matured Personality) की अवस्था कहा जा सकता है।

कषाय एवं हमारा व्यक्तित्व— हमारे व्यक्तित्व का सीधा सम्बन्ध हमारे कषाय सम्बन्धी आवेगों से है। इन आवेगों की जितनी अधिक तीव्रता होगी, व्यक्तित्व में उतनी ही अधिक अस्थिरता होगी। व्यक्ति जितना कषायों या आवेगों से ऊपर उठेगा, उसके व्यक्तित्व में स्थिरता एवं परिपक्वता आती जायेगी। इसी प्रकार व्यक्ति में वासनात्मक आवेगों (कषायों) की जितनी अधिकता होगी, नैतिक दृष्टि से उसका व्यक्तित्व उतना ही निम्नस्तरीय होगा। आवेगों (मनोवृत्तियों) की तीव्रता और उनकी अशुभता दोनों ही व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। वस्तुतः आवेगों में जितनी अधिक तीव्रता होगी, उतनी व्यक्तित्व में अस्थिरता होगी और व्यक्तित्व में जितनी अधिक अस्थिरता होगी उतनी ही अनैतिकता होगी। आवेगात्मक अस्थिरता अनैतिकता की जननी है। इस प्रकार आवेगात्मकता, नैतिकता और व्यक्तित्व तीनों ही एक-दूसरे से जुड़े हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्ति के सन्दर्भ में न केवल आवेगों की तीव्रता पर विचार करना चाहिए वरन् उनकी प्रशस्तता और अप्रशस्तता पर भी विचार करना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही व्यक्ति के आवेगों तथा मनोभावों के शुभत्व एवं अशुभत्व का सम्बन्ध हमारे व्यक्तित्व से जोड़ा गया है। आचार दर्शन में व्यक्तित्व के वर्गीकरण या श्रेणी-विभाजन का आधार व्यक्ति की प्रशस्त और अप्रशस्त मनोवृत्तियाँ ही हैं।

सन्दर्भ :

१. विशेषावश्यकभाष्य- २६६८-२६७१।
२. तुम अनन्तशक्ति के स्रोत हो, पृ० ४७।
३. अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड ३, पृ० ३९५।
४. भगवतीसूत्र, १२/५/२।
५. अंगुतरनिकाय, ३/१३०।
६. भगवतीसूत्र, १५/५/५।
७. तुलना कीजिए- जीवनवृत्ति और मृत्युवृत्ति (फ्रायड)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० ११५७।
९. वही, खण्ड ६, पृ० ४६७।
१०-११. वही, खण्ड ४, पृ० २१६१।
१२. अभिधानराजेन्द्रकोश, श्रमणआवश्यकसूत्र-भयसूत्र, खण्ड ७, पृ० ११५७।
१३. जैन साइकोलॉजी, पृ० १३१-१३४।
१४. तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, पृ० ४७।
१५. दशवैकालिक, ८/३६।
१६. वही, ८/३७।
१७. योगशास्त्र, ४/१०-१८।
१८. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २।
१९. उत्तराध्ययन, ९/५४।
२०. दशवैकालिक, ५/२/३५।
२१. स्पीनोजा इन दी लाईट ऑफ वेदान्त, पृ० २६६।
२२. स्पीनोजा नीति, ४/७।
२३. दशवैकालिक, ८/३९।
२४. (अ) नियमसार, ११५।
(ब) योगशास्त्र ८/२३।
२५. धम्मपद, १/१६।
२६. महाभारत, उद्योगपर्व, उद्धृत-धम्मपद, भूमिका, पृष्ठ ९.
२७. नियमसार, ८१.
२८. सूत्रकृतांग, १/४/१२-१३.
२९. धम्मपद, ९-१०।
३०. संयुक्तनिकाय, ३/३/३।
३१. वही, ४०/१३/१।
३२. सुत्तनिपात, ७/१।
३३. वही, ६/१४।
३४. छान्दोग्योपनिषद्, ७/२६/२।
३५. महाभारत शांतिपर्व, २४४/३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. गीता, १६/४।
३७. वही, १६/४।
३८. वही, १६/२१-२४।
३९. वही, ७/१५।
४०. वही, ५/२३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org